

धर्म कहाँ है ?

धर्मके दो रूप हैं। एक दृष्टिमें आने योग्य प्रत्यक्ष और दूसरा दृष्टिसे ओझल, केवल मनसे समझा जानेवाला परोक्ष। पहले रूपको धर्मका शरीर और दूसरेको आत्मा कहा जा सकता है।

दुनियाके सब धर्मोंका इतिहास कहता है कि प्रत्येक धर्मका शरीर अवश्य होता है। प्रत्येक छोटे बड़े धर्म-पंथमें इतनी बातें साधारण हैं—शास्त्र, उनके रचयिता और ज्ञाता पंडित या गुरु; तीर्थ मंदिरादि पवित्र स्थल; विशेष प्रकारकी उपासना या क्रियाकाण्ड, और उन क्रियाकाण्डों और उपासनाओंका पोषण करनेवाला और उन्हींपर निर्वाह करनेवाला एक वर्ग। सारे धर्मपंथोंमें किसी न किसी रूपमें उक्त बातें मिलती हैं और ये ही उस धर्मके शरीर हैं। अब यह देखना है कि धर्मका आत्मा क्या है? आत्मा अर्थात् चेतना या जीवन। सत्य, प्रेम, निःस्वार्थता, उदारता, विवेक, विनय आदि सद्गुण आत्मा हैं। शरीर भले ही अनेक और भिन्न भिन्न हों परंतु आत्मा सर्वत्र एक होता है। एक ही आत्मा अनेक देहोंमें जीवनको पोसता है, जीवनको बहाता है।

यदि अनेक देहोंमें जीवन एक हो और अनेक देह केवल जीवनके प्रकट होनेके वाहन हों, तो फिर भिन्न भिन्न देहोंमें विरोध, झगड़ा, क्रेश और प्रतिद्वंद्विता कैसे संभव हो सकती है? जब एक ही शरीरके अंग बनकर भिन्न भिन्न स्थानोंपर व्यवस्थित और विभिन्न कामोंके लिए नियुक्त हाथ-पाँव, पेट, आँसू-कान वगैरह अवयव परस्पर लड़ते या झगड़ते नहीं हैं, तो फिर एक ही धर्मके आत्माको धारण करनेका गर्व करनेवाले भिन्न भिन्न धर्मपंथोंके देह परस्पर क्यों लड़ते हैं? उनका सारा इतिहास पारस्परिक झगड़ोंसे क्यों रँगा हुआ है? इस प्रश्नकी ओर प्रत्येक विचारकका ध्यान जाना आवश्यक है। निरीक्षक और विचारकको स्पष्ट दिखाई देगा कि प्रत्येक पंथ जब आत्माविहीन मृतक जैसा होकर गंधाने लगता है और उसमेंसे धर्मके आत्माकी ज्योति लोप हो जाती है, तभी वे संकुचितदृष्टि होकर दूसरेको विरोधी और शत्रु मानने मनानेको तैयार होते हैं। यह सड़न किस प्रकार शुरू होती है और कैसे बढ़ती जाती है, यह जाननेके लिए बहुत गहराईमें जानेकी जरूरत नहीं है। शास्त्र, तीर्थ और मंदिर वगैरह स्वयं जड़ हैं, इस कारण न तो वे किसीको पकड़ रखते हैं और न किसी व्यक्तिसे भिड़नेके लिए धक्का मारते हैं। वे यह करने और वह नहीं

करनेके लिए भी नहीं कहते। स्वयं अङ्ग और निष्क्रिय होनेके कारण दूसरे क्रियाशीलके द्वारा ही प्रेरित होते हैं और क्रियाशील होते हैं प्रत्येक धर्मपंथके पंडित, और क्रियाकाण्डी। जब ये लोग स्वयं जानकर या अनजाने ही धर्मके भ्रममें पड़ जाते हैं और धर्मके मधुर तथा सरल आश्रयके नीचे बिना परिश्रमके आराम-तलबी और बेजिम्मेदारीसे जीनेके लिए ललचाते हैं तब ही धर्म-पंथका शरीर आत्माविहीन होकर सड़ने लगता है, गंधाने लगता है। यदि अनुयायी-वर्ग भोला, अपढ़ या अविवेकी होता है, तो वह धर्मको पोषनेके भ्रममें उलटा धर्म-देहकी गंधका पोषण करता है और इसकी मुख्य जिम्मेदारी उस आरामतलब पंडित या पुरोहित वर्गकी होती है।

प्रत्येक पंथका पंडित या पुरोहित-वर्ग अपना जीवन आरामसे बिताना चाहता है। वह ऐसी लालसाका सेवन करता रहता है कि अपना दोष दूसरोंकी नजरमें न आवे और अपने अनुयायी-वर्गको नजरमें बड़ा दिखाई दे। इस निर्बलतासे वह अनेक प्रकारके आड-म्बरोंका अपने बाड़ेमें पोषण करता जाता है और साथ ही भोला अनुयायी वर्ग कहीं दूसरी ओर न चला जाय, इस डरसे सदैव दूसरे धर्मपंथके देहकी त्रुटियाँ बताता रहता है। वह जब अपने तीर्थका महत्त्व गाता है तब उसे दूसरोंके तीर्थकी महिमाका ख्याल नहीं रहता, इतना ही नहीं वह दूसरे धर्म-पंथोंका अपमान करनेसे भी बाज नहीं आता। जब सनातन धर्मका पंडा काशी या गयाके महत्त्वका वर्णन करता है तब उसीके पासके सारनाथ या राजगृहको भूल जाता है, बल्कि इन तीर्थोंको नास्तिक-धाम कहकर अपने अनुयायी वर्गको चहाँ जानेसे रोकता है। पालीताणा और सम्भेदशिखरके महत्त्वका वर्णन करने-वाला जैन यति गंगा और हरिद्वारका महत्त्व शायद ही स्वीकार करेगा। कोई पादरी जेरुसलमकी तरह मक्का मदीनाको पवित्र नहीं मानेगा। इसी प्रकार एक पंथके पंडित दूसरे पंथके अति महत्त्वपूर्ण शास्त्रोंको भी अपने शास्त्रसे अधिक अधिक महत्त्व नहीं देंगे। इतना ही नहीं, वे अपने अनुयायीवर्गको दूसरे पंथके शास्त्रोंको छूने तकके लिए मना करेंगे। क्रियाकाण्डके विषयमें तो कहा ही क्या जाय! एक पंथका पुरोहित अपने अनुयायीको दूसरे पंथमें प्रचलित तिलक तक नहीं लगाने देता! इन धर्मपंथोंके कलेवरोंकी पारस्परिक घृणा तथा झगड़ोंने हजारों वर्षोंसे ऐतिहासिक युद्धस्थल निर्माण किये हैं।

इस प्रकार एक ही धर्मके आत्माके भिन्न भिन्न देहोंका जो युद्ध चलता

रहता है उसका एक कारण तो ऊपर बताया गया है—उसीपर निम्नोवाले वर्गकी अकर्मण्य और आरामतलब जिंदगी। दूसरा कारण है प्रत्येक पंथके अनुयायी-वर्गकी मतिमंदता और तेजोहीनता। यदि हम इतिहासके आधारसे समझ लेते हैं कि अधिकतर पंथके पोषक मानवताको जोड़नेके बदले उसे बराबर खंडित करते आये हैं, तो हमारा (अनुयायी-वर्गका) कर्तव्य है कि हम स्वयं ही धर्मके सूत्र अपने हाथमें लेकर उसके विषयमें स्वतंत्र विचार करें। एक बार अनुयायी-वर्गमेंसे कोई ऐसा विचारक और साहसी-वर्ग बाहर निकला तो उस पंथके देह-पोषकोंमेंसे भी उसे साथ देनेवाले अवश्य मिल जायेंगे। धर्मपंथके पोषकोंमें कोई योग्य नहीं होता या उनमें किसी योग्य व्यक्तिका होना संभव नहीं, ऐसी कोई बात नहीं है। परंतु प्रत्येक पंथका वातावरण धीरे धीरे ऐसा अन्योन्याश्रित हो जाता है कि यदि उसमेंसे कोई सच्चा पुरोहित पंडित या गुरु कोई सच्ची बात कहने या तदनुसार आचरण करनेका निश्चय करे तो वह दूसरेसे डरता है और दूसरा तीसरेसे। जिस स्टेशनके सभी कर्मचारी रिश्वत आदि लेकर काम करते हों, उसमें एकाध प्रामाणिक व्यक्तिके लिए अपना जीवन बीताना कठिन हो जाता है। यही दशा पंथ-देहके पोषकोंमें किसी योग्य व्यक्तिकी होती है। किसी असाधारण शक्तिके बिना पुरोहित, पंडित या गुरुवर्गमें पालित पोषित व्यक्तिके लिए कुलपरंपरागत प्रवृत्तिका विरोध करना या उसमें उदार दृष्टिबिंदु प्रविष्ट करना बहुत कठिन हो जाता है। जो धर्म सबको एक समय प्रकाश देनेकी और सबको समान भावसे देखनेकी दृष्टि अर्पित करनेकी शक्ति रखता है, वही धर्म पंथोंमें फैसकर अपना अस्तित्व गवाँ देता है। पंथ-पोषक वर्ग जब धर्मके प्रवचन करता है तब तो सारे जगतको समान भावसे देखनेकी और सबकी समानरूपसे सेवा करनेकी बात कहता है और उसके लिए अपने शास्त्रोंके प्रमाण भी देता है, पर जब उसके आचरणकी ओर दृष्टिपात करते हैं, तब जो असंगति उसके रहन-सहनके बीचमें होती है वह स्पष्ट दिखाई दे जाती है। सेवा, संपूर्ण त्याग और अहिंसाकी महिमा गानेवाला तथा उसके प्रचारके लिए वेष लेनेवाला वर्ग लोगोंकी पसीनेकी कमाईका जब केवल अपनी सेवाके लिए उपयोग करता है और बिलकुल व्यर्थ तथा भाररूप आडम्बरपूर्ण क्रियाकांडों और उत्सवोंमें खर्च कराके धर्मकृत्य करनेके संतोषका पोषण करता है, तब समझदार मनुष्यका मन विह्वल होकर पुकार उठता है कि इससे धर्मकी क्या लेना देना है ?

यदि आडम्बर और स्वागत आदिसे भी धर्मकी प्रभावना और वृद्धि होती हो, तो गणितके हिसाबसे जो अधिक आडम्बर करता करता है, वह अधिक धार्मिक गिना जाना चाहिए। यदि तीर्थों और मंदिरोंके निमित्त केवल धनका संचय करना ही धर्मका लक्षण हो, तो जो पेढ़ी ऐसा धन अधिक एकत्रित करके उसकी रक्षा करती है वही अधिक धार्मिक गिनी जानी चाहिए। परंतु दूसरी ओर पंथ-देहके पोषक ही उससे उलटा कहते हैं और मानते-मनाते हैं। वे अपने लिए होनेवाले आडम्बरोंके सिवाय दूसरोंके आडम्बरका महत्त्व या उसकी धार्मिकताका गाना नहीं गाते। इसी प्रकार वे दुनियाके किसी भी दूसरे धर्मपंथकी पेढ़ीकी प्रचुर संपत्तिको धार्मिक संपत्ति नहीं गिनते। ऐसा है तो यह भी स्पष्ट है कि यदि दूसरे पंथके पोषक पहले पंथके पोषकोंके आडम्बरों और उसकी पेढ़ियोंको धार्मिक नहीं गिनें, तो इसमें कोई अनौचित्य नहीं है। यदि दोनों एक दूसरेको अधार्मिक गिनते हैं, तो हमें क्या भानना चाहिए ? हमारी विवेक-बुद्धि जागरित हो, तो हम थोड़ी-सी भी कठिनाईके बिना निश्चय कर सकते हैं कि जो मानवताको नहीं जोड़ती है, उसमें अनुसंधान पैदा करनेवाले गुणोंको नहीं प्रकट करती है, ऐसी कोई भी बात धार्मिक नहीं हो सकती।

अनुयायी वर्गमें ऊपर बताई हुई विचारसरणी पैदा करने, उसे पचाने और दूसरेसे कहने योग्य नम्र साहसको विकसित करनेका नाम धार्मिक शिक्षण है। यह हमें दीपककी तरह बता सकता है कि धर्म उसके आत्मामें है और उसका आत्मा है सदाचारी और सद्गुणी जीवन। ऐसे आत्मामें होनेपर ही देहका मूल्य है, अभावमें नहीं। भिन्न भिन्न पंथोंके द्वारा खड़े किये गये देहोंके अवलंबनके बिना भी धर्मका आत्मा जीवनमें प्रकट हो सकता है, केवल देहोंका आश्रय लेनेपर नहीं।

इस साधनोंकी तंगी और कठिनाइयोंसे युक्त युगमें मानवताको जोड़ने और उसे जीवित रखनेका एक ही उपाय है और वह यह कि हम धर्मकी भ्रान्तियों और उसके बहमोंसे जल्दी मुक्ति प्राप्त करें और अंतरमें सच्चा अर्थ समझें।

[मांगरोल जैन-समाका सुवर्ण महोत्सव अंक, सन् १९४७]